

बी.ए.प्रथम वर्ष सूर का वात्सल्य एवं श्रृंगार

सूरदास जी वात्सल्यरस के सम्राट माने गए हैं। उन्होंने श्रृंगार और शान्त रसों का भी बड़ा मर्मस्पर्शी वर्णन किया है। बालकृष्ण की लीलाओं को उन्होंने अन्तःचक्षुओं से इतने सुन्दर, मोहक, यथार्थ एवं व्यापक रूप में देखा था, जितना कोई आँख वाला भी नहीं देख सकता। वात्सल्य का वर्णन करते हुए वे इतने अधिक भाव-विभोर हो उठते हैं कि संसार का कोई आकर्षण फिर उनके लिए शेष नहीं रह जाता।

सूर ने कृष्ण की बाललीला का जो चित्रण किया है, वह अद्वितीय व अनुपम है। डॉक्टर हजारी प्रसाद द्विवेदी जी ने लिखा है - "संसार के साहित्य की बात कहना तो कठिन है, क्योंकि वह बहुत बड़ा है और उसका एक अंश मात्र हमारा जाना है, परन्तु हमारे जाने हुए साहित्य में इनी तत्परता, मनोहारिता और सरसता के साथ लिखी हुई बाललीला अलभ्य है। बालकृष्ण की एक-एक चेष्टा के चित्रण में कवि कमाल की होशियारी और सूक्ष्म निरीक्षण का परिचय देता है। न उसे शब्दों की कमी होती है, न अलंकार की, न भावों की, न भाषा की। अपने-आपको पिटाकर, अपना सर्व निछावर करके जो तन्मयता प्राप्त होती है वही श्रीकृष्ण की इस बाल-लीला को संसार का अद्वितीय काव्य बनाए हुए है।"

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने भी इनकी बाललीला-वर्णन की प्रशंसा में लिखा है - "गोस्वामी तुलसी जी ने गीतावली में बाललीला को इनकी देखा-देखी बहुत विस्तार दिया सही, पर उसमें बाल-सुलभ भावों और चेष्टाओं की वह प्रचुरता नहीं आई, उसमें रूप-वर्णन की ही प्रचुरता रही। बाल-चेष्टा का निम्न उदाहरण देखिए -

मैया कवहिन बढेगी चोटी ?

कितिक बार मोहि दूध पियत भई,

यह अजहूँ है छोटी ।

तू जो कहति 'बल' की बेनी

ज्यों हववै है लाँबी मोटी ॥

खेलत में को काको गोसैयाँ

जाति-पाँति हमतें कछु नाहिं,

न बसत तुम्हारी छैयाँ ।

अति अधिकार जनावत यातें,

अधिक तुम्हारे हैं कछु गैयाँ ।

सोभित कर नवनीत लिए ।

घुटरुन चलत रेनु तन मंडित,

मुख दधि लेप किए ॥

सूर के शान्त रस वर्णनों में एक सच्चे हृदय की तस्वीर अति मार्मिक शब्दों में मिलती है।

कहा करौ बैकुंठहि जाय ?
जहँ नहिँ नन्द, जहाँ न जसोदा,
नहिँ जहँ गोपी ग्वाल न गाय ।
जहँ नहिँ जल जमुना को निर्मल
और नहिँ कदमन की छाँय ।
परमानन्द प्रभु चतुर ग्वालिनी,
ब्रजरज तजि मेरी जाय बलाय ।

कुछ पदों के भाव भी बिल्कुल मिलते हैं, जैसे -

अनुखन माधव माधव सुमिरइत सुंदर भेलि मधाई ।
ओ निज भाव सुभावहि बिसरल अपने गुन लुबधाई ॥

भोरहि सहचरि कातर दिठि हेरि छल छल लोचन पानि ।
अनुखन राधा राधा रटइत आधा आधा बानि ॥
राधा सयँ जब पनितहि माधव, माधव सयँ जब राधा ।
दारुन प्रेम तबहि नहिँ टूटत बाढ़त बिरह क बाधा ॥
दुहुँ दिसि दारु दहन जइसे दगधइ, आकुल कोट-परान ।
ऐसन बल्लभ हेरि सुधामुखि कबि विद्यापति भान ॥

इस पद्य का भावार्थ यह है कि प्रतिक्षण कृष्ण का स्मरण करते करते राधा कृष्णरूप हो जाती हैं और अपने को कृष्ण समझकर राधा क वियोग में 'राधा राधा' रटने लगती हैं। फिर जब होश में आती हैं तब कृष्ण के विरह से संतप्त होकर फिर 'कृष्ण कृष्ण' करने लगती हैं।

सुनौ स्याम ! यह बात और काउ क्यों समझाय कहै ।
दुहुँ दिसि की रति बिरह बिरहिनी कैसे कै जो सहै ॥
जब राधे, तब ही मुख "माधौ माधौ" रटति रहै ।
जब माधो ह्वै जाति, सकल तनु राधा - विरह रहै ॥
उभय अग्र दव दारुकीट ज्यों सीतलताहि चहै ।
सूरदास अति बिकल बिरहिनी कैसेहु सुख न लहै ॥

सूरसागर में जगह जगह दृष्टिकूटवाले पद मिलते हैं। यह भी विद्यापति का अनुकरण है। "सारंग" शब्द को लेकर सूर ने कई जगह कूट पद कहे हैं। विद्यापति की पदावली में इसी प्रकार का एक कूट देखिए -

सारंग नयन, बयन पुनि सारंग,
सारंग तसु समधाने ।
सारंग उपर उगल दस सारंग
केलि करथि मधु पाने ॥

पच्छिमी हिन्दी बोलने वाले सारे प्रदेशों में गीतों की भाषा ब्रज ही थी। दिल्ली के आसपास भी गीत ब्रजभाषा में ही गाए जाते थे, यह हम खुसरो (संवत् १३४०) के गीतों में दिखा आए हैं। कबीर (संवत् १५६०) के प्रसंग में कहा जा चुका है कि उनकी "साखी" की भाषा तो "सधुक्कड़ी" है, पर पदों की भाषा काव्य में प्रचलित ब्रजभाषा है। यह एक पद तो कबीर और सूर दोनों की रचनाओं के भीतर ज्यों का त्यों मिलता है -

है हरिभजन का परवाँन ।
नीच पावै ऊँच पदवी,
बाजते नीसान ।
भजन को परताप ऐसो
तिरे जल पापान ।
अधम भील, अजाति गनिका
चढ़े जात बिवाँन ॥
नवलख तारा चलै मंडल,
चले ससहर भान ।
दास धू कौँ अटल
पदवी राम को दीवान ॥
निगम जामी साखि बोलैं
कथैं संत सुजान ।
जन कबीर तेरी सरनि आयौ,
राखि लेहु भगवान ॥
(कबीर ग्रंथावली)

है हरि-भजन को परमान ।
नीच पावै ऊँच पदवी,
बाजते नीसान ।
भजन को परताप ऐसो
जल तरै पाषान ।
अजामिल अरु भील गनिका

चढ़े जात विमान ॥
चलत तारे सकल, मंडल,
चलत ससि अरु भान ।
भक्त ध्रुव की अटल पदवी
राम को दीवान ॥
निगम जाको सुजस गावत,
सुनत संत सुजान ।
सूर हरि की सरन आयौ,
राखि ले भगवान ॥
(सूरसागर)

कबीर की सबसे प्राचीन प्रति में भी यह पद मिलता है, इससे नहीं कहा जा सकता है कि सूर की रचनाओं के भीतर यह कैसे पहुँच गया।

राधाकृष्ण की प्रेमलीला के गीत सूर के पहले से चले आते थे, यह तो कहा ही जा चुका है। बैजू बावरा एक प्रसिद्ध गवैया हो गया है जिसकी ख्याति तानसेन के पहले देश में फैली हुई थी। उसका एक पद देखिए -

मुरली बजाय रिझाय लई मुख मोहन तें ।
गोपी रीझि रही रसतानन सों सुधबुध सब बिसराई ।
धुनि सुनि मन मोहे, मगन भई देखत हरि आनन ।
जीव जंतु पसु पंछी सुर नर मुनि मोहे, हरे सब के प्रानन ।
बैजू बनवारी बंसी अधर धरि बृंदाबन चंदबस किए सुनत ही कानन ॥

जिस प्रकार रामचरित का गान करने वाले भक्त कवियों में गोस्वामी तुलसीदासजी का स्थान सर्वश्रेष्ठ है उसी प्रकार कृष्णचरित गाने वाले भक्त कवियों में महात्मा सूरदासजी का। वास्तव में ये हिंदी काव्यगगन के सूर्य और चंद्र हैं। जो तन्मयता इन दोनों भक्तशिरोमणि कवियों की वाणी में पाई जाती है वह अन्य कवियों में कहां। हिन्दी काव्य इन्हीं के प्रभाव से अमर हुआ। इन्हीं की सरसता से उसका स्रोत सूखने न पाया।

उत्तम पद कवि गंग के,
कविता को बलबीर ।
केशव अर्थ गँभीर को,
सुर तीन गुन धीर ॥

इसी प्रकार यह दोहा भी बहुत प्रसिद्ध है -

किधौं सूर को सर लग्यो,
किधौं सूर की पीर ।
किधौं सूर को पद लग्यो,
बेधो सकल सरीर ॥

यद्यपि तुलसी के समान सूर का काव्यक्षेत्र इतना व्यापक नहीं कि उसमें जीवन की भिन्न भिन्न दशाओं का समावेश हो पर जिस परिमित पुण्यभूमि में उनकी वाणी ने संचरण किया उसका कोई कोना अछूता न छूटा। श्रृंगार और वात्सल्य के क्षेत्र में जहाँ तक इनकी दृष्टि पहुँची वहाँ तक ओर किसी कवि की नहीं।

काहे को आरि करत मेरे मोहन !
यों तुम आँगन लोटी ?
जो माँगहु सो देहुँ मनोहर,
य है बात तेरी खोटी ॥
सूरदास को ठाकुर ठाढ़ो
हाथ लकुट लिए छोटी ॥

सोभित कर नवनीत लिए ।
घुटुरुन चलत रेनु - तन - मंडित,
मुख दधि-लेप किए ॥

सिखवत चलन जसोदा मैया ।
अरबराय कर पानि गहावति,
डगमगाय धरै पैयाँ ॥

पाहुनि करि दै तरक मह्यो ।
आरि करै मनमोहन मेरो,
अंचल आनि गह्यो ॥
व्याकुल मथत मथनियाँ रीती,
दधि भवै ढरकि रह्यो ॥

बालकों के स्वाभाविक भावों की व्यंजना के न जाने कितने सुंदर पद भरे पड़े हैं। "स्पर्धा" का कैसा सुंदर भाव इस प्रसिद्ध पद में आया है -

मैया कबहिं बढैगी चीटी ?

कितिक बार मोहिं दूध पियत भई,
वह अजहूँ है छोटी ।
तू जो कहति "बल" की बेनी ज्यों
हवै है लाँबी मोटी ॥

इसी प्रकार बालकों के क्षोभ के यह वचन देखिए -

खेलत में को काको गोसैयाँ ?
जाति पाँति हम तें कछु नाहिं,
न बसत तुम्हारी छैयाँ ।
अति अधिकार जनावत यातें,
अधिक तुम्हारे हैं कछु गैयाँ ॥

वात्सल्य के समान ही श्रृंगार के संयोग और वियोग दोनों पक्षों का इतना प्रचुर विस्तार और किसी कवि में नहीं। गोकुल में जब तक श्रीकृष्ण रहे तब तक का उनका सारा जीवन ही संयोग पक्ष है।

करि ल्यौ न्यारी,
हरि आपनि गैयाँ ।
नहिंन बसात लाल कछु तुमसों
सबै ग्वाल इक ठैयाँ ।

धेनु दुहत अति ही रति बाढ़ी ।
एक धार दोहनि पहुँचावत,
एक धार जहँ प्यारी ठाढ़ी ॥
मोहन कर तें धार चलति पय
मोहनि मुख अति ह छवि बाढ़ी ॥

राधा कृष्ण के रूप वर्णन में ही सैकड़ों पद कहे गए हैं निमें उपमा, रूपक और उत्प्रेक्षा आदि की प्रचुरता है। आँख पर ही न जाने कितनी उक्तियाँ हैं

देखि री ! हरि के चंचल नैन।
खंजन मीन मृगज चपलाई,
नहिं पटतर एक सैन ॥

राजिवदल इंदीवर, शतदल,
कमल, कुशेशय जाति ।
निसि मुद्रित प्रातहि वै बिगसत, ये बिगसे दिन राति ॥
अरुन असित सित झलक पलक प्रति,
को बरनै उपमाय ।
मनो सरस्वति गंग जमुन
मिलि आगम कीन्हों आय ॥

नेत्रों के प्रति उपालंभ भी कहीं कहीं बड़े मनोहर हैं -

सींचत नैन-नीर के, सजनी ! मूल पतार गई ।
बिगसति लता सभाय आपने छाया सघन भई ॥
अब कैसे निरुवारों, सजनी ! सब तन पसरि छई ।

सूरसागर का सबसे मर्मस्पर्शी और वाग्वैदग्ध्यपूर्ण अंश भ्रमरगीत है जिसमें गोपियों की वचनवक्रता अत्यंत मनोहारिणी है। ऐसा सुंदर उपालंभ काव्य और कहीं नहीं मिलता। उद्धव तो अपने निर्गुण ब्रह्मज्ञान और योग कथा द्वारा गोपियों को प्रेम से विरत करना चाहते हैं और गोपियाँ उन्हें कभी पेट भर बनाती हैं, कभी उनसे अपनी विवशता और दीनता का निवेदन करती हैं -

उधो ! तुम अपनी जतन करौ
हित की कहत कुहित की लागै,
किन बेकाज ररौ ?
जाय करौ उपचार आपनो,
हम जो कहति हैं जी की ।
कछु कहत कछुवै कहि डारत,
धुन देखियत नहिं नीकी ।

इस भ्रमरगीत का महत्त्व एक बात से और बढ़ गया है। भक्तशिरोमणि सूर ने इसमें सगुणोपासना का निरूपण बड़े ही मार्मिक ढंग से, हृदय की अनुभूति के आधार पर तर्कपद्धति पर नहीं - किया है। सगुण निर्गुण का यह प्रसंग सूर अपनी ओर से लाए हैं। जब उद्धव बहुत सा वाग्विस्तार करके निर्गुण ब्रह्म की उपासना का उपदेश बराबर देते चले जाते हैं, तब गोपियाँ बीच में रेककर इस प्रकार पूछती हैं -

निर्गुन कौन देस को बासी ?
मधुकर हँसि समुझाय,
सौह दै बूझति साँच, न हॉसी।

और कहती हैं कि चारों ओर भासित इस सगुण सत्ता का निषेध करके तू क्यों व्यर्थ उसके अव्यक्त और अनिर्दिष्ट पक्ष को लेकर यों ही बक बक करता है।

सुनिहै कथा कौन निर्गुन की,
रचि पचि बात बनावत ।
सगुन - सुमेरु प्रगट देखियत,
तुम तृन की ओट दुरावत ॥

उस निर्गुण और अव्यक्त का मानव हृदय के साथ भी कोई सम्बन्ध हो सकता है, यह तो बताओ -

रेख न रूप, बरन जाके नहिँ ताको हमैं बतावत ।

अपनी कहौ, दरस ऐसे को तु कबहुँ हौ पावत ?

मुरली अधर धरत है सो, पुनि गोधन बन बन चारत ?

नैन विसाल, भौंह बंकट करि देख्यो कबहुँ निहारत ?

तन त्रिभंग करि, नटवर वपु धरि, पीतांबर तेहि सोहत ?

सूर श्याम ज्यों देत हमैं सुख त्यों तुमको सोउ मोहत ?

अन्त में वे यह कहकर बात समाप्त करती हैं कि तुम्हारे निर्गुण से तो हमें कृष्ण के अवगुण में ही अधिक रस जान पड़ता है। इस प्रकार सूर का प्रेम अलौकिक है।

डॉ० वन्दना
असिस्टेन्ट प्रोफेसर—हिन्दी